

यह एक प्रत्यक्ष तथ्य है कि मानव को उपासना करने के लिए कुछ न कुछ चाहिए। आप और मैं और अन्य अनेक लोग अपने जीवन में कुछ पवित्र, कुछ पावन उपलब्ध कर लेना चाहते हैं, और हम या तो मंदिरों, मस्जिदों और गिरजों में जाते हैं, अथवा हमारे पास अन्य प्रतीक, प्रतिमाएं अथवा अवधारणाएं होती हैं, जिनकी हम उपासना किया करते हैं। किसी की उपासना करने की आवश्यकता बड़ी तीव्र प्रतीत होती है, क्योंकि हम अपने आप से निकलकर किसी महान, विस्तृत, गहनतर, अधिक स्थायी स्थिति में जाना चाहते हैं। इसीलिए हम महात्मा, शिक्षक, स्वर्ग में या धरती पर किसी दिव्य सत्ता का आविष्कार कर लेते हैं, हम क्रॉस, अर्द्धचंद्र जैसे विभिन्न प्रतीक बना लेते हैं। यदि इनमें से कोई भी संतोषजनक नहीं होता, तो हम ये अनुमान लगाने बैठ जाते हैं कि मन के परे क्या है, यह मानकर कि वह कुछ ऐसा है, जो कि पावन है, पूजनीय है। यह हमारे प्रतिदिन के जीवन में होता है, जहां तक मैं सोचता हूं, हममें से अधिकतर लोग इससे अच्छी तरह अवगत हैं। ज्ञात के क्षेत्र में, मन और स्मृति के क्षेत्र में सदा यह प्रयत्न होता रहता है, तथा हम कभी इस सबसे मुक्ति पाने में एवं उसे खोज लेने में सक्षम प्रतीत नहीं होते, जो पावन है, जिसका निर्माण मन ने नहीं किया है।

यदि संभव हो, तो इस सुबह मैं इस प्रश्न में जाना चाहूंगा कि क्या वस्तुतः कुछ अपरिमेय है, कुछ ऐसा है जिसकी थाह मन द्वारा नहीं पायी जा सकती। ऐसा करने के लिए हमें अपनी सोच में, अपने मूल्यों में एक क्रांति लानी होगी। मेरा अभिप्राय किसी आर्थिक या सामाजिक क्रांति से नहीं है, वह तो मात्र अपरिपक्वता है; वह सतही तौर पर हमारे जीवन को प्रभावित कर सकती है, लेकिन आधारभूत रूप से यह क्रांति बिलकुल नहीं है। मैं उस क्रांति की बात कर रहा हूं, जो स्व-ज्ञान से आती है, मन की सतह पर विचारों की परीक्षा से आने वाले सतही स्व-ज्ञान से नहीं, बल्कि स्व-बोध की अगाध गहराइयों से आती है।

निश्चय ही हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह तथ्य है कि हमारे सारे प्रयत्न ज्ञात के क्षेत्र में ही होते हैं। हम मात्र उन सीमाओं के भीतर काम करते प्रतीत होते हैं, जिन्हें हम पहचानने में समर्थ हैं, अर्थात् जो स्मृति के क्षेत्र में हैं; क्या मन उस क्षेत्र से बाहर आ सकता है?

यदि मैं सुझाव दे सकूं, तो जब मैं बात कर रहा हूं, आप अपने मन का अवलोकन करें, क्योंकि मैं इस विषय में गहरे उतरना चाहता हूं, तथा यदि आप इसे तत्काल अमल में लाए बिना मात्र शाब्दिक व्याख्या का अनुसरण कर रहे हैं, तो इस व्याख्या का कोई महत्त्व नहीं है। यदि आप इसे सुन लें और कहें, “मैं इस बारे में कल अथवा इस वार्ता के उपरांत सोचूंगा”, तो बात निकल चुकी होती है, इसका कोई मूल्य नहीं होता। परंतु यदि आप जो कुछ कहा जा रहा है उसकी ओर पूरा ध्यान दे रहे हैं, तथा उसे अमल में लाने में समर्थ हैं, जिसका अर्थ है कि आप अपनी बौद्धिक व भावनात्मक प्रक्रियाओं के प्रति सजग हैं, तब जो मैं कह रहा हूं, उसकी सार्थकता आप तत्काल देख पाएंगे।

देखिए//ऐसा है, हम सोचते हैं कि हम ज्ञान संचित करके, तुलना करके समझ पाते हैं। निश्चित रूप से उस ढंग से हम नहीं समझते हैं। यदि आप एक वस्तु की दूसरी से तुलना करते हैं तो आप बस तुलना में ही खोए होते हैं। किसी बात को आप अपना पूरा ध्यान दे कर ही समझ सकते हैं, तथा किसी भी तरह की तुलना अथवा मूल्यांकन तो एक विचलन है।

तो, स्व-ज्ञान संचित ज्ञान नहीं है, और मेरे ख्याल में यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। यदि स्व-ज्ञान संचित किया हुआ है तो वह मात्र यांत्रिक होगा। यह किसी चिकित्सक के ज्ञान की तरह होगा, जिसने कोई तकनीक सीख ली है तथा शरीर के किसी खास भाग में निरंतर विशेषज्ञता प्राप्त कर रहा है। एक शल्य चिकित्सक अपनी शल्य चिकित्सा का श्रेष्ठ यंत्रविद् हो सकता है, क्योंकि उसने तकनीक सीख ली है, उसके पास इसके लिए जानकारी और प्रतिभा है, तथा संचित अनुभव भी है, जो उसकी सहायता करता है। परंतु हम ऐसे संचित अनुभव की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि बात इसके उलट है, किसी भी प्रकार का संचित ज्ञान आगे के अन्वेषण को रोक देता है; किंतु जब कोई अन्वेषण कर लेता है, तब संभवतः वह संचित तकनीक का प्रयोग कर सकता है।

निश्चित ही, मैं जो कह रहा हूँ, वह एकदम सरल है। यदि कोई स्वयं को देखने में, अपना अध्ययन करने में समर्थ है, तो उसे स्पष्ट होना शुरू हो जाता है कि कैसे संचित स्मृति हर उस चीज पर काम कर रही है, जिस-जिस को वह देखता है; अनुभव हमेशा ज्ञात के, संस्कारों के क्षेत्र में होता है, क्योंकि हम हमेशा मूल्यांकन, स्वीकार-अस्वीकार, बुराई या बड़ाई करते रहते हैं। किंतु यदि संचित स्मृति का निर्देशन न हो, तो हममें से ज्यादातर लोग खुद को खोया-हारा हुआ महसूस करते हैं, डरा हुआ महसूस करते हैं, और इसलिए हम उस रूप में अपना अवलोकन करने में अक्षम होते हैं, जैसे कि वस्तुतः हम हैं। जब संचय की प्रक्रिया होती है, जो स्मृति की उपज है, तो हमारा स्वयं का अवलोकन सतही हो जाता है। स्मृति स्वयं को निर्देशित करने, सुधारने में सहायक है, परंतु आत्म-सुधार से कभी कोई क्रांति, कोई मूलभूत रूपांतरण संभव नहीं है। जब आत्म-सुधार की वृत्ति बिना किसी संकल्प के पूरी तरह रुक जाती है, तब कुछ अनुभवातीत, कुछ सर्वथा नया अस्तित्व में आने की संभावना होती है।

यदि कोई दूसरों के कहे हुए को दोहराने की, दूसरों के प्रमाणों पर, जो बकवास हो सकते हैं, निर्भर रहने की व्यर्थता की ओर ध्यान दिलाता है, तो यकीनन आप कह देंगे, 'मैं नहीं जानता'। यदि कोई वास्तव में 'मैं नहीं जानता' कहने की अवस्था में आ सके, तो इससे विनम्रता का असाधारण भाव प्रकट होता है, उसमें ज्ञान का कोई दर्प नहीं होता, प्रभावित करने के लिए कोई स्व-आग्रही उत्तर नहीं होता। जब आप वास्तव में कह सकें कि 'मैं नहीं जानता'--जिसे कहने में बहुत कम लोग सक्षम होते हैं--तब उस अवस्था में समस्त भय समाप्त हो जाता है, क्योंकि पहचान का सारा भाव, स्मृति में हो रही सारी खोजबीन का अंत हो गया होता है, तब ज्ञात के क्षेत्र में कोई छान-बीन नहीं हो रही होती है। तब उस असाधारण का आगमन होता है। मैंने अब तक जो कुछ कहा है, यदि आपने उसे समझा है, मात्र शाब्दिक तौर पर नहीं, बल्कि आप उसे वास्तव में अनुभव कर रहे हैं, तो आप पाएंगे कि जब आप कह पाते हैं, 'मैं नहीं जानता', तो आप की समस्त संस्कारग्रस्तता थम चुकी होती है, और तब मन की अवस्था क्या होती है? आप समझ रहे हैं, मैं क्या बात कर रहा हूँ? क्या मैं अपने आप को स्पष्ट कर पा रहा हूँ? मैं सोचता हूँ आपके लिए इस ओर थोड़ा सा ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है, यदि आप चाहें तो।

देखिए, हम कुछ स्थायी खोज रहे हैं, कुछ ऐसा जो समय के संदर्भ में स्थायी हो, अटल हो, शाश्वत हो। हम देखते हैं कि हमारे आस-पास हर वस्तु अनित्य, परिवर्तनशील है, जन्म लेना, मुरझाना और मरना और हमारी तलाश सदा ज्ञात के क्षेत्र में कुछ ऐसा स्थापित करने की होती है, जो बना रहे। परंतु जो सच में ही पावन है, वह समय के माप से परे होता है, उसे ज्ञात के क्षेत्र में नहीं पाया जाता है। ज्ञात केवल विचार के माध्यम से काम करता है, जो चुनौती के लिए स्मृति का प्रत्युत्तर है। यदि मैं इसे देख लेता हूँ, और यह

पता लगाना चाहता हूँ कि विचार का अंत कैसे हो, तो मुझे क्या करना होता है? निश्चित रूप से, मुझे स्व-ज्ञान द्वारा अपनी सोच की संपूर्ण प्रक्रिया के प्रति सजग होना होगा। मुझे देखना होगा कि प्रत्येक विचार, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म हो, कितना ही उदात्त हो अथवा कितना ही हेय हो, मूर्खतापूर्ण हो, उसकी जड़ें ज्ञात में, स्मृति में ही होती हैं। यदि मैं इसे स्पष्टता से देख लेता हूँ, तो मन किसी विराट समस्या का सामना होने पर यह कहने में समर्थ होता है, “मैं नहीं जानता” क्योंकि इसका कोई उत्तर है ही नहीं। तब सभी उत्तरों का कोई मतलब नहीं रह जाता है, चाहे वे उत्तर बुद्ध के हों, ईसा के हों, या फिर दिव्यात्माओं के, शिक्षकों के, गुरुओं के हों; क्योंकि यदि उनका कोई अर्थ है, तो वह अर्थ स्मृतियों के संग्रह से अर्थात् अपने ही संस्कारों से जन्मा है।

यदि मैं इस सबके सत्य को देख लेता हूँ और सभी उत्तर एक तरफ हटा देता हूँ, जो मैं न जानने की अगाध विनम्रता होने पर ही कर पाता हूँ, तो मन की क्या अवस्था होती है? उस मन की क्या अवस्था होती है, जो कहता है, “मैं नहीं जानता कि ईश्वर है अथवा नहीं है, प्रेम है या नहीं है”, अर्थात् जब स्मृति का कोई प्रत्युत्तर नहीं होता, तो मन की क्या अवस्था होती है? कृपया अपने आप को तुरंत उत्तर मत दीजिए; क्योंकि यदि आप ऐसा करते हैं, तो आपका उत्तर मात्र इस बात की पहचान होगा कि आपके विचार में इसे क्या होना और क्या नहीं होना चाहिए। यदि आप कहते हैं कि यह ‘निषेध की अवस्था’ है, तो आप इसकी तुलना उससे कर रहे हैं, जो आप पहले से ही जानते हैं; इसलिए इसमें उस अवस्था का, जिसमें आप कहते हैं, “मैं नहीं जानता”, अभाव होता है।

मैं इस समस्या की जांच-पड़ताल व्यापक रूप में करना चाहता हूँ, ताकि आप भी अपने मन के अवलोकन द्वारा इसे समझ सकें। जिसमें मन कहता है, “मैं नहीं जानता” वह अवस्था निषेध नहीं है। मन दूढ़ना, तलाश करना पूरी तरह रोक चुका है। इसने किसी भी ओर गति करना बंद कर दिया है, क्योंकि यह देखता है कि ज्ञात से, उस वस्तु की ओर जिसे अज्ञात कहते हैं, कोई भी गति मात्र ज्ञात का ही प्रक्षेपण है। केवल वह मन, जो यह कहने में समर्थ है, “मैं नहीं जानता”, वही ऐसी अवस्था में होता है जिसमें कोई अन्वेषण किया जा सके। परंतु जो आदमी कह रहा हो, ‘मैं जानता हूँ’, जिस आदमी ने विविध मानवीय अनुभवों का खूब सारा अध्ययन कर लिया हो, तथा जिसका मन सूचना के, विश्वकोशों से प्राप्त जानकारी के बोझ से दबा हुआ हो, क्या वह कभी कुछ ऐसा अनुभव कर सकता है, जिसे संचित नहीं किया जा सके? उसके लिए यह अत्यंत दुष्कर होगा। जब मन अपने द्वारा अर्जित समस्त जानकारी को परे हटा देता है, जब उसके लिए न बुद्ध, न ईसा, न दिव्यात्माएं और न ही कोई शिक्षक या धर्म-उद्धरण रह जाता है, जब मन पूरी तरह एकाकी, अदूषित होता है--जिसका अर्थ है कि ज्ञात की हलचल का अवसान हो गया है--तभी एक महती क्रांति, एक आधारभूत परिवर्तन की संभावना होती है। स्पष्टतः यह परिवर्तन आवश्यक है; बहुत थोड़े से लोग ही, आप और मैं, या ‘अ’, स्वयं में इस क्रांति का सूत्रपात कर पाए हैं, वे ही एक नया संसार रचने में सक्षम हैं, न कि वे लोग जो आदर्शवादी हैं, बौद्धिक हैं, और न ही वे, जिनके पास अपार जानकारी है, जो भलाई के कामों में लगे हैं; ये लोग वे नहीं हैं। ये सारे तो सुधारक हैं। धार्मिक मनुष्य वह है, जो किसी धर्म से, किसी राष्ट्र से, किसी नस्ल से जुड़ा हुआ नहीं है, जो आंतरिक तौर पर पूर्णतः एकाकी है, न जानने की स्थिति में है, और उसके लिए उस पावन के आशिष का प्राकट्य होता है।

ओहाइ, 21 अगस्त 1955